

ओ३म्

सत्यार्थप्रकाश में क्या है ?

प्रो. धर्मवीर

सत्यार्थ प्रकाश में क्या है

प्रो. धर्मवीर



वैदिक पुस्तकालय,
दयानन्द आश्रम, अजमेर

सत्यार्थ प्रकाश में क्या है

संस्करण : प्रथम, जून २०१७

मूल्य : १५/-

लेखक : प्रो. धर्मवीर

प्रकाशक : वैदिक पुस्तकालय,
दयानन्द आश्रम, केसरगंज,
अजमेर-३०५००१ (राज.)
०१४५-२४६०१२०

मुद्रक : श्री आर्य प्रिन्टर्स
केसरगंज, अजमेर

रूपांकन : कमलेश पुरोहित, अजमेर
मोबाइल : ०९८२८१८०१९७

प्रकाशकीय

चन्द पन्नों में लिखा यह ग्रन्थ आज लगभग ४२ वर्ष बाद पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। पहली बार इसे पं. भारतेन्द्र नाथ जी (दयानन्द संस्थान) ने सत्यार्थ प्रकाश के शताब्द पूरे होने पर प्रकाशित किया था। इसकी उपयोगिता को देखते हुये तथा युवा धर्मवीर के दर्शन करने के लिये इस ग्रन्थ के पुनर्प्रकाशन का ख्याल आया है। जिन्होंने डॉ. धर्मवीर के प्रौढ़त्व को देखा है उन्हें इसका प्रयोजन बताना निरर्थक ही है। हाँ! नये पाठकों को निवेदन कर दें कि इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि यह सत्यार्थ प्रकाश के प्रति अबोध-प्रबोध दोनों के लिये समानोपयोगी है। अबोध कुछ पलों में ही उस महान् ग्रन्थ की महत्ता जान सकता है और प्रबोध के लिये भी उपस्थिति को सरसरी निगाह काफी है।

पद-लालित्य और वाक्य-सौष्ठव जैसी बातें शायद पाठकों को न दिखें, पर पंक्ति-पंक्ति में दयानन्द ज़रूर नजर आ जायेंगे। इससे बड़ा सौष्ठव भी भला क्या होगा? लेखक द्वारा किया गया परिश्रम सम्मान के योग्य है। इतने महान् ग्रन्थ का दर्शन चन्द पंक्तियों में जो करा दिया।

मन्त्री, परोपकारिणी सभा

अजमेर

प्रथम समुल्लास

इस समुल्लास का प्रारम्भ 'शन्नो मित्रः' इस मन्त्र से किया गया है। इससे आगे तैत्तिरीय आरण्यक का 'नमो ब्रह्मणे' सन्दर्भ उद्धृत है। इस प्रकार इसमें 'जो कहूँगा सच कहूँगा सत्य से अतिरिक्त कुछ भी न कहूँगा', इस प्रकार की प्रतिज्ञा है।

सर्वप्रथम परमेश्वर के मुख्य नाम 'ओ३म्' का विवेचन किया गया है। इसमें प्रत्येक अक्षर से तीन-तीन नामों का ज्ञान होता है। जैसे अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि, उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजस आदि, मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि। इस प्रकार व्यापक होने व वेदादि शास्त्रों में उल्लेख होने से 'ओ३म्' नाम परमेश्वर का मुख्य नाम है और प्रसंगानुकूल अन्य सभी नाम भी गुण-कर्म को दर्शाते हुए परमेश्वर के वाचक बनते हैं तथा प्रत्येक नाम में सभी शब्दों की भाँति अन्य अर्थ भी सम्भव हो सकते हैं उनको समझने के लिए बुद्धिमान् व्यक्ति प्रसंग को समझ कर अर्थ करता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए स्वामी जी ने 'सैन्धवमानय' इस वाक्य का उदाहरण दिया है, क्योंकि सैन्धव शब्द घोड़े और लवण दोनों का वाचक है, किन्तु प्रसंगानुकूल अर्थ ही ग्राह्य होता है। 'ओ३म्' शब्द को सिद्ध करने के लिए और उसकी मुख्यता प्रतिपादित करने के लिए वेद के मन्त्र, मनुस्मृति के श्लोक तथा उपनिषदों के सन्दर्भ बहुशः उद्धृत किये गये हैं।

स्वामी जी के विचार से विराट्, पुरुष, देवादि शब्द जहाँ अल्पज्ञ के विशेषण हों, वहाँ ये परमेश्वर के वाचक नहीं हो सकते, किन्तु सर्वज्ञ के विशेषण होने पर इनसे परमात्मा का ग्रहण होगा और इस तरह से प्रकरणानुकूल अर्थ की प्रक्रिया को स्वामी जी ने प्रतिपादित किया है। संसार के त्रिविध तापों का निवारण करने की इच्छा से मन्त्रों के अन्त में तीन बार 'शान्तिः' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार सौ नामों की व्याख्या स्वामी जी ने दर्शायी है। वैसे

तो परमात्मा के नाम असंख्य हो सकते हैं। उनके बारे में भी इसी पद्धति से विचार किया जाना चाहिए। इस समुल्लास में मंगलाचरण की भी चर्चा आयी है। स्वामी जी मध्यकालीन मंगलाचरण परम्परा के विरोध में हैं। मंगलाचरण के जो प्रकार देखने में आते हैं, वेद एवं शास्त्र-विरुद्ध होने से वे त्याज्य हैं। इस प्रकार प्राचीन परम्परा की पुष्टि में महाभाष्य, मीमांसा, योग, सांख्य और उपनिषद् के प्रारम्भिक सूत्रों को उद्धृत किया है। स्वामी जी के विचार से प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में 'ओ३म् वा अथ' शब्द का ही उपयोग होना चाहिए। इस प्रकार प्रथम समुल्लास पूरा होता है।

द्वितीय समुल्लास

दूसरे समुल्लास में शिक्षा का विधान किया गया है। स्वामी जी के विचार से शिक्षा का अभिप्राय केवल साक्षरता नहीं है, सत् संस्कार पूर्वक ज्ञान प्राप्त करना वस्तुतः शिक्षा है। अच्छे संस्कार और श्रेष्ठ ज्ञान के लिए तदनुकूल वातावरण की अपेक्षा होती है। इसीलिए समुल्लास के प्रारम्भ में स्वामी जी महाराज ने शतपथ ब्राह्मण के वचन द्वारा प्रतिपादित किया है कि वह कुल धन्य होता है और उस कुल की सन्तान बड़ी भाग्यशाली होती हैं जिनके माता-पिता धार्मिक और विद्वान् हों। स्वामी जी न केवल जन्म के प्रारम्भ से अपितु जन्म के पहले से ही संस्कारित बालक के बनाने के लिये प्रयास करने की प्रेरणा देते हैं। बालक के उत्पन्न होने के बाद माता और बालक के स्वास्थ्य व बुद्धि की रक्षा एवं वृद्धि के लिये चिकित्सा शास्त्र में से प्रारम्भिक बातों की चर्चा की है। स्वामी जी के विचार से पांच वर्ष तक की शिक्षा माता द्वारा प्रदान की जाती है, जिसमें शिष्टाचार और वर्णों का ठीक-ठीक उच्चारण सिखाना प्राथमिक कर्त्तव्य है। आगे-आगे मधुर वाणी, बड़ों के पास उठना-बैठना तथा सत्संग में रुचि के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए और बुरी आदतों से बालक को दूर रखना चाहिए। पाँच वर्ष के पश्चात् पिता द्वारा देवनागरीय अक्षरों के साथ विदेशी भाषाओं के अक्षरों का भी अभ्यास कराया जाना चाहिये। साथ ही बड़े-छोटे सम्बन्धियों से पारस्परिक व्यवहार, मन्त्र, श्लोक और सूक्तियाँ भी कण्ठस्थ करानी चाहिए तथा बुराइयों से इस प्रकार सतर्क करते चलना चाहिये, जिससे बालक को कोई बहका न सके और बालक के मन में भूत-प्रेत आदि का मिथ्या भय और विश्वास न जमा सके। इसी प्रसंग में बतलाया है कि जो मर गये हैं, उन्हीं का नाम भूत है अन्य कोई भूत नहीं होता, प्रचलित भूत प्रपंच हैं, सब ढोंग हैं, इस ढोंग से बचना चाहिये। यहीं पर वो ग्रह-शान्ति के लिये पूजा-पाठ, दान आदि को मूर्खता बताते हैं। ज्योतिष शास्त्र में अंक, बीज और रेखागणित की विद्या-विज्ञान होने से सत्य और फलित ज्योतिष की लीला केवल झूँठ कही गई है। जन्मपत्री को स्वामी जी शोक-पत्र कहते हैं और उसका कोई उपयोग नहीं है। इसी प्रकार शीतला, मन्त्र-तन्त्र, डोरा आदि विघ्न दूर करने वाले नहीं हो सकते, सब मात्र धूर्तों का व्यवहार है।

इसके आगे स्वामी जी महाराज शरीर और स्वास्थ्य की बढ़ोतरी के लिए विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग आदि ब्रह्मचर्य-नाशक कार्यों से पृथक् रहना और उपनयन करके विद्वान् आचार्य के कुल में लड़कों और लड़कियों को भेजना आवश्यक मानते हैं। बचपन में अधिक लालन से बच्चों के बिगड़ने की अधिक सम्भावना रहती है अतः ताड़न का प्रयोग दोषों से बचाता है। इसमें केवल ऊपर से भय दिखाना और अन्दर से कृपा-दृष्टि रहनी योग्य है। आगे चोरी आदि दुर्गणों का त्याग, सत्याचार का ग्रहण, अभिमान करने से हानि, छल-कपट, कृतघ्नता आदि से दूर रहने का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। अच्छी शिक्षा, गुरुजनों का आदर व नमस्ते के साथ प्रथम अभिवादन करने की भी आदत बच्चों में प्रारम्भ से ही डालनी चाहिये। इस प्रकार इस समुल्लास में सद्व्यवहार का उपदेश करते हुए उन माता-पिताओं

की स्वामी जी ने आलोचना की है और कहा है-वे माता-पिता अपनी सन्तानों के शत्रु हैं जिन्होंने अपने बच्चों को सद्व्यवहार से वंचित रखा है क्योंकि ऐसे बालक विद्वानों की सभा में हंसों के मध्य बगुलों जैसे लगते हैं। इस प्रकार माता-पिता का कर्त्तव्य-कर्म, परम-धर्म और कीर्ति का काम है कि वे अपनी सन्तानों को तन-मन-धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और सुशिक्षा से युक्त करें।

तृतीय समुल्लास

तीसरे समुल्लास में माता-पिता व आचार्य के मुख्य कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है और नीति शतक के श्लोक का भावार्थ देते हुए वाणी को ही वास्तविक आभूषण कहा गया है। वे नर-नारी धन्य हैं जो वेद-विहित कर्म करते हुए परोपकार में तत्पर रहते हैं। स्वामी जी के मत से आठ वर्ष के लड़कों और लड़कियों को शालाओं में भेज दिया जाना चाहिये। जहाँ पर पूर्ण विद्वान् और सदाचारी अध्यापक और अध्यापिकायें हों। पाठशाला का स्थान एकान्त होना चाहिये। लड़के-लड़कियों की पाठशाला में कम से कम दो कोस की दूरी होनी चाहिये। लड़कियों की पाठशाला में सभी कर्मचारी महिला और लड़कों की पाठशाला में सभी पुरुष कर्मचारी होने चाहिएँ। लड़कियों की पाठशाला में पाँच वर्ष के लड़के व लड़कों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की को भी जाने की अनुमति नहीं होनी चाहिए और अध्यापक लोग उन्हें परस्पर विषय-कथा और एकान्त-सेवन आदि से बचावें। पाठशाला बस्ती से चार कोस दूर होनी चाहिये। शाला में रहने वाले राजकुमार से दरिद्र तक सभी बालकों के लिए खान-पान, वस्त्र, आसन एक जैसे होने चाहियें। संसार की चिन्ता से मुक्त हों इसलिए माता-पिता से मिलना और पत्र- व्यवहार भी निषिद्ध होना चाहिये।

गुरुकुल में आचार्य शिष्य को गायत्री-मन्त्र का उपदेश, स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रियायें सिखलायें। इस प्रकरण के सन्दर्भ में स्वामी जी ने

चार प्रकार का प्राणायाम, संध्या-हवन का विधान, यज्ञ से लाभ, उपनयन का अधिकार, ब्रह्मचर्य की अवधि, तीन प्रकार का ब्रह्मचर्य, शरीर की चार अवस्थायें, विवाह के योग्य स्त्री और पुरुषों की आयु का विवेचन किया है। इसके बाद तैत्तिरीयोपनिषद् के वचन द्वारा पढ़ने-पढ़ाने वालों के नियम बताये हैं। इसी प्रसंग में यम-नियमों का व्याख्यान किया गया है। ब्राह्मण शरीर बनाने के लिये पाँच यज्ञ, शिल्पविद्यादि यज्ञों का सेवन, इन्द्रियों के संयम से लाभ और असंयम से हानि, श्रेष्ठ कार्यों के लिये श्रेष्ठ मानसिक संकल्प की आवश्यकता बतलाते हुए मनु के श्लोकों के आधार पर स्वाध्याय में अनध्याय न करने का विधान और वृद्धजनों की सेवा के फल आदि की चर्चा है। 'सत्यं वद' आदि वाक्यों के द्वारा आचार्य का शिष्य के लिए उपदेश वर्णित है। उसके बाद सर्वथा कामनाओं के त्याग की असम्भवता, आचार-पालन करने का महत्त्व, वेद की निन्दा करने से नास्तिक होना, धर्म का चतुर्विध लक्षण, धर्म के ज्ञान में वेद की परम प्रामाणिकता, क्षत्रियों के पढ़ाने में ब्राह्मण का कल्याण होता है। इन सब बातों का प्रमाणपूर्वक विवेचन किया है। इसके बाद सत्यासत्य की परीक्षा के लिये पाँच प्रकार लिखे गये हैं और परीक्षाओं को समझाने में उपयोगी प्रत्यक्षादि प्रमाणों को दर्शन-सूत्रों के आधार पर विस्तार से समझाया गया है। इसमें प्रमाण के साथ प्रसंगानुसार प्रमेयों की भी चर्चा की गयी है। अन्त में पठन-पाठन की विधि को विस्तार से बताते हुए अनार्ष ग्रन्थों के पढ़ने से हानि, व्याकरण-महाभाष्य के (पठनीय) बाद पढ़ने योग्य अन्य साहित्य ग्रन्थ, दर्शन एवं उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपवेद, ज्योतिष-शास्त्र, षड्दर्शन और उनके प्रामाणिक भाष्य, स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण ग्रन्थों की विवेचना तथा पढ़ने-पढ़ाने की विधि में परित्याग के योग्य ग्रन्थों का उल्लेख भी किया गया है। इसके बाद इतिहास और पुराण का अर्थ बताते हुए वैदिक मत मानने का उल्लेख है। यहीं पर प्रश्नोत्तरपूर्वक छः शास्त्रों में परस्पर

विरोध न होने की बात भी कही गयी है। पढ़ने-पढ़ाने में आने वाले विघ्न और उनको दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहने के लिए कहा गया है। स्त्री और शूद्रों द्वारा वेद न पढ़ने के मत की मीमांसा करते हुये सब के लिए वेदाध्ययन के अधिकार की वेद-मन्त्र के प्रमाण से चर्चा की गयी है तथा कन्याओं को ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन का अधिकार बतलाया गया है।

यज्ञ और संस्कारों में स्वर सहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृत-भाषण आदि स्त्रियों द्वारा किये जाने का उल्लेख सूत्र ग्रन्थों से उद्धृत किया है और अन्त में स्त्री और पुरुषों को न्यूनातिन्यून क्या-क्या पढ़ना और सीखना चाहिये-इस बात को बतलाया है। जीवन भर विद्या की वृद्धि करते हुए विद्या का दान करते रहना चाहिए। इन बातों का इस समुल्लास में उल्लेख है।

चतुर्थ समुल्लास

चतुर्थ समुल्लास में समावर्तन, विवाह-संस्कार और गृहाश्रम की चर्चा की गयी है-मनु के श्लोकों के आधार पर ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदों का अध्ययन कर समावर्तन संस्कार करा के ही व्यक्ति को गृहाश्रम के लिए अधिकारी बनना बतलाया है। विवाह के लिये योग्य कन्या की चर्चा में ऐसी कन्या को योग्य कहा गया है जो माता की छः पीढ़ियों में और पिता के गोत्र की न हो क्योंकि परोक्ष वस्तु की प्रशंसा सुनकर प्राप्ति की उत्कट इच्छा और प्राप्ति में प्रसन्नता होती है। यहीं पर दूर देश में विवाह करने के आठ लाभ भी गिनाये गये हैं। मनु के द्वारा निर्दिष्ट विवाह सम्बन्ध के अयोग्य कुलों का भी वर्णन किया है। स्वामी जी के विचार से विवाह योग्य आयु चौबीस, बत्तीस और अड़तालीस वर्ष पुरुष के लिए तथा सोलह, बीस और चौबीस वर्ष स्त्री के लिए उत्तम अवधि है। बाल-विवाह की हानियाँ बताते हुए गौरी, रोहिणी आदि संज्ञाओं का खण्डन किया गया है, वहीं पर तत्सदृश श्लोक बनाकर उन पुरातन मान्यताओं का खण्डन किया गया है तथा शास्त्रीय वचनों को उद्धृत

करके पच्चीस और सोलह की आयु का समर्थन किया है। स्वामी जी के विचार से समान गुण, कर्म, स्वभाव वालों का ही विवाह होना चाहिये, असमान गुण, कर्म, स्वभाव वालों का नहीं, चाहे सारी आयु अविवाहित ही क्यों न रहना पड़े। विवाह में लड़के-लड़कियों की प्रसन्नता अनिवार्य है। विवाह माता-पिता द्वारा नियोजित होने की दशा में किसी भी प्रकार लड़के-लड़कियों की इच्छा के विरुद्ध न हो। इसीलिए स्वामी जी युवावस्था में विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर के यथायोग्य स्वयं-विवाह को सर्वोत्तम और वेद संगत मानते हैं। उनके विचार से आर्यावर्त के पतन का कारण स्वयंवर विवाह का छूट जाना ही है। यहाँ पर वर्ण-व्यवस्था का विचार भी किया गया है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्'-इस मन्त्र से जन्मना प्राप्त जाति-व्यवस्था का खण्डन कर गुणकर्मानुसार वर्ण-परिवर्तन को स्वीकृति प्रदान की गई है। वर्ण विनिश्चय के लिए विद्याध्ययन के बाद विवाह से पूर्व वर्ण प्रदान किया जाना चाहिए। यहाँ पर चारों वर्णों के गुण, कर्म, स्वभाव का विवेचन किया गया है। उसके बाद विवाह के मनु-निर्दिष्ट आठ प्रकार गिनाये गये हैं। यहाँ विवाह से पूर्व फोटाग्राफ की सहायता लेने का उल्लेख है। परस्पर बातचीत से, एक-दूसरे की योग्यता से लड़के-लड़कियों को सन्तुष्ट होना चाहिए। निश्चय होने पर संस्कार विधि के क्रम से विवाह किया जाना चाहिए। यहाँ पर गर्भ-समय से लेकर जात-कर्म तक के समय में किए जाने वाले स्वस्थवृत्त और सद्वृत्त की चर्चा, उपयोगी चिकित्सा, शास्त्रीय द्रव्यों के सेवन आदि का भी उल्लेख है। गृहस्थाश्रम में संयम, प्रसन्नता, परस्पर का सत्कार, कर्त्तव्य, लोक-व्यवहार, व्यर्थ की निन्दा-स्तुति का परित्याग, वेदादिशास्त्रों का नित्य स्वाध्याय और दैनिक पञ्च-यज्ञों के किए जाने का विधान है। यहाँ पर संक्षेप में पञ्चयज्ञों का उल्लेख किया गया है एवं उनके फल का भी निर्देश है। गृहस्थ के सामान्य कर्त्तव्यों में प्रातः जागरण, धर्म-

चिन्तन, अधर्माचरण से हानि, ऋत्विक्, पुरोहित आदि से झगड़ा न करने का विधान है। गृहस्थियों के द्वारा दान की चर्चा में दान के लिए पात्र-अपात्र, पाखण्डी, दुष्ट लोगों के लक्षण लिखे हैं और धर्म संचय के प्रकार और उसका फल बतलाया गया है। गृहस्थाश्रम में सब कार्य परस्पर की सहमति और अधीनता के साथ करने चाहिएँ। यहाँ पर ब्राह्मण, पंडित, मूर्ख के लक्षणों का भी उल्लेख किया है। विद्यार्थियों के सात दोष, विद्या प्राप्त करने में समर्थ लोगों का लक्षण, अध्यापक और विद्यार्थियों के कर्त्तव्य, चारों वर्णों का कार्य, एवं पारस्परिक कर्त्तव्य का उल्लेख है। स्त्री और पुरुषों को चिरकाल तक दूर न रहने का विधान भी किया है। मृत्यु के कारण वियोग की दशा में पुनर्विवाह की अपेक्षा नियोग को प्रधानता दी गई है और नियोग को प्रामाणिक बतलाते हुए तत्सम्बन्धी नियम और व्यवस्था का भी उल्लेख है। यहीं पर निरुक्त के अनुसार व्युत्पत्ति को दर्शाकर नियोग किसके साथ किया जाए इसको स्पष्ट किया गया है और नियोग को एक आपद् धर्म के रूप में गिनाया है। साथ ही इस पद्धति की प्राचीनता तथा जीवित पति के होने पर भी इसकी आवश्यकता की चर्चा की है। अन्त में विवाह को आवश्यक कृत्य बताते हुए उसमें किए जाने वाले कार्यों को उत्साह, इच्छापूर्वक सतत करते रहने को कहा गया है। अन्त में वेद-विरुद्ध वचनों को स्वीकार न कर वेदानुकूल आचरणों का निर्देश है। मनु के अनुसार गृहस्थाश्रम की उच्चता के लिए चार श्लोक प्रस्तुत किए गए हैं।

पंचम समुल्लास

पांचवें समुल्लास में वानप्रस्थ और संन्यास का विधान किया गया है। शतपथ के उद्धरण के साथ ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम पालन करने का विधान है। यहाँ पर वानप्रस्थियों के कर्त्तव्य बतलाते हुए संन्यास ग्रहण की इच्छा होने पर स्त्री को पुत्रों के पास भेजकर

संन्यास लेना योग्य कहा गया है। संन्यास आयु के तीन भाग व्यतीत होने पर लेना चाहिए। संन्यास के विषय में ब्रह्मचर्य से संन्यास, गृहस्थाश्रम से ही संन्यास और वानप्रस्थाश्रम से संन्यास इन तीन प्रकार के संन्यास की चर्चा की गई है। जिनका मन शान्त नहीं, जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिनका आत्मा योगी नहीं, ऐसे व्यक्तियों को संन्यास कभी नहीं लेना चाहिए। उपनिषदों के अनुसार संन्यासी के कर्त्तव्य, संन्यास का फल, संन्यासी को किन लोगों का सत्संग करना चाहिए यह बतलाते हुए त्रिविध एषणाओं का परित्याग करने के लिए कहा गया है। संन्यासियों के विशेष धर्म के रूप में पक्षपातरहित आचरण, सत्य का पालन, परोपकार आदि करते हुए मनु द्वारा निर्दिष्ट सभी नियमों के पालन का विधान किया गया है। संन्यास ग्रहण का अधिकार ब्राह्मण को देते हुए पात्रता की स्थिति में सभी वर्णों को दिया गया है। अन्त में संन्यासाश्रम की आवश्यकता, संन्यासी द्वारा कर्मों का परित्याग, प्रसंगवश जीव और ब्रह्म का अनेकत्व, संन्यास सम्बन्धी भ्रान्तियों का निराकरण, संन्यासियों की उपयोगिता, समाज-कल्याण के लिए एक स्थान पर अधिक न ठहरना, संन्यासी के जीवन-यापन के लिए उचित धनादि की आवश्यकता, श्राद्ध की निरर्थकता वर्णित हुई है। ब्रह्मचर्य से संन्यास लेने को अत्यन्त कठिन कार्य बताया गया है और ऐसी स्थिति में अनाधिकारी द्वारा लिया गया संन्यास स्वयं के डूबने और दूसरों को डुबाने में कारण बनता है। सम्राट् और परिव्राट् की तुलना करते हुए चारों आश्रमों के कर्त्तव्य का संक्षिप्त उल्लेख हुआ है। यहीं पर वैरागी, गुसाईं, खाखी आदि को उनमें संन्यास का एक भी लक्षण न होने से संन्यासाश्रमी के स्थान पर स्वार्थाश्रमी कहा है।

षष्ठ समुल्लास

छठे समुल्लास में राजधर्म की व्याख्या करते हुए क्षत्रियों के कर्त्तव्य का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। राजा का प्रथम कर्त्तव्य समस्त प्रजा की रक्षा करना है। वेदमन्त्र के आधार पर राजार्यसभा, विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा के निर्माण का राज्य-संचालन के लिए विधान है। राजा को राजसभा के आधीन और राजसभा को राजा के आधीन और राजा और प्रजा को परस्पर आधीन रहना चाहिए। अन्यथा होने पर जो भी शक्तिशाली होगा वह अन्याय की ओर बढ़ेगा। यहाँ सभापति की योग्यता, तीनों सभाओं के अधिकारी और सभासद् कैसे होने चाहिएँ-यह बताकर सभापति के गुण बतलाए हैं। दण्ड को सच्चे राजा के रूप में स्थापित किया है। राजा और राजपरिषद् की योग्यता की तुलना में अकेले वेदज्ञ संन्यासी को सर्वोच्च माना है। राजा और राजपुरुषों द्वारा जितेन्द्रियता एवं संयम का पालन करते हुए दश कामज और आठ क्रोधज दुर्गुणों से दूर रहना अनिवार्य बतलाया है। योग्य मन्त्रियों और दूतों की नियुक्ति, राजा, मन्त्री और दूत के अधिकार, दुर्गों के भेद और उपयोग, पुरोहित और ऋत्विक् की नियुक्ति, विविध अध्यक्षों का कार्य, युद्ध सम्बन्धी नियम भी मनु के अनुसार प्रतिपादित किए गए हैं। चार प्रकार के पुरुषार्थ, राजा द्वारा मायाचार की वर्जना, दण्डितों को वश में करना, प्रजा को कभी भी पीड़ित न करना, सुव्यवस्थित शासन-पद्धति का निर्माण, गुप्तचरों द्वारा समस्त वृत्तान्त से स्वयं को सतत् अवगत रखना, दुष्ट राजकर्मचारियों को कठोर दण्ड देना राज्य-व्यवस्था का प्रमुख अंग माना गया है। राजा के द्वारा कर-ग्रहण मनु के अनुसार विहित है। राजा की दिनचर्या, सन्धि-विग्रह आदि उपायों का प्रयोग करते हुए मित्र, उदासीन, शत्रुओं की वृद्धि न होने देना राजा के लिए आवश्यक कहा है। साथ ही युद्ध के लिए जाने से पूर्व के कार्य, विविध व्यूहों की रचना, पराजित शत्रु के साथ यथायोग्य व्यवहार भी चर्चित हुआ है। राजा

और प्रजा के परस्पर सम्बन्ध में विवाद के अठारह स्थान और उनके निर्णय का विवेचन है। इसी प्रसंग में न्यायाधीश, वकील, साक्षी उनके गुण-दोषों का भी विवेचन हुआ है। अपराध की न्यूनाधिकता से विभिन्न प्रकार के दण्डों की चर्चा की गयी है और अन्त में अनुक्त विषयों में आवश्यक नियम बनाते हुए राज्य में बाल-विवाह व बहु-विवाहों को सर्वथा बन्द करने के लिए कहा गया है तथा इस बात को ध्यान में रखने के लिए कहा गया है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है।

सप्तम समुल्लास

सप्तम समुल्लास का प्रारम्भ ईश्वर के गुणों के वर्णन में चार वेदमन्त्रों को उद्धृत करते हुए किया है। पहला प्रश्न वेद में अनेकेश्वरवाद का खण्डन करते हुए एकेश्वरवाद की स्थापना की है। बहुदेवतावाद के सम्बन्ध में प्रश्न उठाते हुए तैंतीस देवताओं की चर्चा की है। फिर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि बताकर ईश्वर के व्यापकत्व को सिद्ध किया है। ईश्वर के न्यायकारी और दयालु होने में परस्पर विरोध का परिहार करते हुए न्याय और दया शब्दों की व्याख्या की है। ईश्वर की निराकारता बताते हुए सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ बताया है और ईश्वर अनादि है तथा सबका भला चाहता है, उससे शक्ति और सद्‌गुण प्राप्ति के लिए उसकी स्तुति, प्रार्थनोपासना क्यों करनी चाहिए, इसकी चर्चा भी है। यहीं पर सगुण-निर्गुण स्तुति की चर्चा करते हुए योग्य-अयोग्य प्रार्थना को बतलाया है, पुरुषार्थी की प्रार्थना ही सदा सफल होती है, यह प्रतिपादित है। इसके बाद उपासना का अर्थ और उपासना के अंगभेद तथा फल की चर्चा की गई है। ईश्वर के गुणों को भूलना उसके प्रति कृतघ्नता है, यह बतला कर ईश्वर के सक्रिय और सगुण होने की चर्चा करते हुए इन्द्रियों से रहित वह कैसे काम करता है इस पर विचार किया गया है। इससे आगे ईश्वर का स्वरूप, कपिल के मत से ईश्वर को सिद्ध, दूसरे शास्त्रों

में ईश्वर का प्रतिपादन, ईश्वर के अवतार लेने का खण्डन करते हुए बतलाया गया है कि ईश्वर पापों को कभी क्षमा नहीं करता। यहीं पर जीव की स्वतन्त्रता और परतन्त्रता पर विचार करते हुए बतलाया है कि जीव ईश्वर से उत्पन्न नहीं होता और कर्म करने में भी स्वतन्त्र है। यहीं पर दोनों के स्वरूप और गुण-कर्म-स्वभाव की चर्चा है। ईश्वर के त्रिकालदर्शी होने की सिद्धि करते हुए जीवन और ईश्वर के व्याप्य-व्यापक आदि सम्बन्ध बताए हैं। यहाँ पर वेदान्त के वाक्यों की चर्चा हुई है तथा नवीन वेदान्तियों के छः अनादि पदार्थों का खण्डन करते हुए अद्वैत शब्द का अर्थ और उसकी सिद्धि की गई है। तत्पश्चात् ईश्वर की सगुणता-निगुर्णता व उसके रागी या विरक्त होने एवं उसमें इच्छा की सम्भावना पर विचार किया है। वेद को ईश्वरीय ज्ञान बतलाते हुए जीवों को अन्तर्यामी रूप से वेदोपदेश देने की चर्चा है। वेदों के प्रकाश का काल, चार ऋषियों पर वेदों का आविर्भाव,वेदों की भाषा, वेद का ईश्वर कर्तृत्व, ईश्वरीय ज्ञान के बिना विद्वत्ता का अभाव, वेद-संज्ञा विचार, वेदों की शाखायें, उनकी नित्यानित्यता और सर्वज्ञ, वेदों के रचयिता के विषय में इस समुल्लास में विस्तार से वर्णन किया गया है।

अष्टम समुल्लास

अष्टम समुल्लास में सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय-विषय का व्याख्यान किया गया है। वेदों के मन्त्रों, दर्शनों के सूत्रों, उपनिषद्-वचनों से परमेश्वर को जगत् का निमित्त कारण बतलाया है। ईश्वर, जीव, प्रकृति-तीनों को अनादि काल से विद्यमान बतलाते हुए ईश्वर जीव प्रकृति का अनादित्व विवेचन प्रमाणपूर्वक है। सांख्य सूत्र से प्रकृति के स्वरूप का वर्णन करके उसे ही जगत् का उपादान कारण सिद्ध किया है। यहीं जगदुत्पत्ति के तीन कारणों की चर्चा आई है। साथ ही ब्रह्म के निमित्तोपादान कारण का विस्तार

से खण्डन हुआ है। पश्चात् सृष्टि-रचना में परमेश्वर का परोपकार व आनन्द प्रदान करना प्रयोजन बतलाया है। प्रसंगतः कारण की पूर्व विद्यमानता, सर्वशक्तिमान् का अर्थ व ईश्वर की निराकारता को भी स्पष्ट किया है। असम्भव कार्य का ईश्वर द्वारा न किया जाना, कारण के कारण का अभाव, सृष्टि-रचनाविषयक विभिन्न विचारों की भी चर्चा करते हुए प्रश्नोत्तर में शून्य की अपदार्थता, अभाव से भाव की उत्पत्ति का न होना, कर्मानुसार फल सिद्धि बताते हुए बिना कारण कार्य नहीं होता यह सिद्ध किया है। यहीं पर वेदान्तियों द्वारा प्रतिपादित सब पदार्थों की अनित्यता का खण्डन हुआ है। उत्पन्न होने वाले पदार्थ कार्य होने से नित्य नहीं होते, ऐसा बतलाया है। सब पदार्थ अभाव रूप नहीं हो सकते और जगत् की उत्पत्ति भी स्वभावतः न होकर परमेश्वर की रचना से होती है। अतः यह जगत् भी अनादि नहीं हो सकता और आत्मा परमात्मा नहीं बनता। सृष्टि सभी कल्पों में समान रूप से बनती है और सभी शास्त्रों के विचार भी विरोधी नहीं हैं-यह सिद्ध कर सृष्टि के कार्य-कारण व रचना का विवेचन किया गया है। सृष्टि के प्रारम्भ में युवा स्त्री-पुरुषों की सृष्टि बतला सृष्टि का प्रवाह से अनादित्व प्रतिपादित किया गया है। यह मनुष्य-सृष्टि सर्वप्रथम तिब्बत में हुई, वहाँ से विस्तार होकर सर्वप्रथम आर्यों ने भारत में अपना निवास बनाया। यहीं आर्यावर्त्त की सीमा बताते हुए आर्य और दस्यु का भेद बतलाया है। आर्यों की भूल से विदेशियों का शासन होना, स्वराज्य की महत्ता बताते हुए सृष्टि-उत्पत्ति का काल, परमात्मा, शेष, उक्षा का अर्थ भी यहाँ स्पष्ट किया है। ईश्वर द्वारा लोकों का धारण, पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर भ्रमण-सिद्धान्त प्रतिपादित कर दूसरे लोकों में मानव-सृष्टि एवं वेद-ज्ञान की स्थिति बताकर अन्त में जीव और प्रकृति को ईश्वराधीन बताया है।

नवम समुल्लास

इस समुल्लास में विद्या-अविद्या, बन्ध-मोक्ष विषयों का व्याख्यान किया है। सर्वप्रथम यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय के मन्त्र से विद्या और कर्म से मोक्ष की प्राप्ति बतलाई है। मन्त्र में आये विद्या-अविद्या शब्दों का विशेष विवेचन करते हुए नवीन वेदान्त मत की बन्ध-मोक्ष विषयक मान्यता की समीक्षा की है। आत्मा के निर्लेपत्व का खण्डन और जीव के ब्रह्म प्रतिबिम्ब कथन की निस्सारता, उपाधि-भेद से ईश्वर और जीव में ब्रह्मत्व का निराकरण किया है। जीव की चेतना का आधार भी ब्रह्म नहीं हो सकता इसको सिद्ध करते हुए ब्रह्म में अध्यारोप का खण्डन किया गया है। पश्चात् मुक्ति क्या है? बन्ध क्या है? इनके कारण कौन से हैं? मुक्ति में जीव का ब्रह्मलय सम्भव नहीं, अपितु वह स्वाभाविक शक्तियों से मुक्ति का आनन्द भोगता है, बताया है। जीव के चौबीस प्रकार के सामर्थ्य का परिगणन किया है तथा मुक्ति में संकल्पमय शरीर से विचरते हुए आनन्द लाभ बतलाया है।

मुक्ति से पुनरावृत्ति के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का भी यहीं पर प्रतिपादन है तथा मुक्ति के काल का भी निर्देश करके मुक्ति से पुनरावृत्ति न मानने में दोष गिनाये गए हैं। जीव ईश्वर सदृश कभी नहीं होता, मुक्ति भी जन्म-मरण जैसी बात नहीं-यह स्पष्ट कर मुक्ति के चार साधनों का विवेचन किया है तथा कल्पित मुक्त दशा को बन्धन रूप कहा गया है। प्रसंगत: पूर्व जन्म के स्मरण का अभाव, विस्मृत कार्यों के फल देने का औचित्य भी चर्चित हुआ है। कर्मानुसार ही भोग मिलता है और प्राणिमात्र में जीव समान है, केवल पाप-पुण्य के कारण ही योनि-भिन्नता होती है, इसका विवेचन है। मुक्ति अनेक जन्मों के प्रयास का फल बताते हुए जीव का बिना शरीर के स्वशक्ति से आनन्द भोग करना बतलाया गया है तथा यहीं स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य की गति, किन गुणों से कौन-सी योनि प्राप्त होती है इसका भी सप्रमाण विवेचन

हुआ है। समुल्लास के अन्त में योग से चित्तवृत्ति निरोध और त्रिविध दु:खों से छुटकारा पाने के लिए अत्यन्त पुरुषार्थ का विधान है।

दशम समुल्लास

इस समुल्लास में आचार-अनाचार, भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेचन है। आचार-अनाचार का लक्षण करते हुए मनु-प्रोक्त धर्म को सार्थक उद्धृत किया है। धर्म के साथ विशेष कर्त्तव्यों का भी कथन है। पश्चात् आचार की महत्ता बताते हुए विदेश-गमन से आचार भ्रष्ट होना मिथ्या प्रलाप है, यह बताया है, क्योंकि प्राचीन काल से ही देश-देशान्तरों में जाने का वर्णन मिलता है और भिन्न देशों में आने-जाने से अनेक लाभ होते हैं। जहाँ भी जाएं वहाँ गुणों का ही ग्रहण करना चाहिए, दोषों का नहीं। बाहर जाते हुए पाखण्ड-खण्डन सीखकर जाना चाहिए क्योंकि व्यापार से ही देश उन्नत होता है। पाखण्डियों को भय है कि विदेश जाकर लोग बुद्धिमान् हो उनके बहकावे में नहीं आएंगे। युद्ध में विजय ही आचार और पराजय ही अनाचार है। चौके के चक्कर में ही देश नष्ट हो गया, उद्देश्य तो मात्र भोजन स्थान की शुद्धि है, सखरी-निखरी का आडम्बर माल खाने का प्रकार है-यह सब स्पष्ट किया है। भोजन शूद्र द्वारा बनाने की चर्चा है, जिससे विद्वानों का अधिक समय योग्य कार्यों में लगे। यहाँ छूत-छात की तर्कसंगत विवेचना हुई है। केवल एक खानपान से सुधार नहीं होगा। सुधार तो स्वशासन व स्वराज्य से ही सम्भव है, जो पारस्परिक फूट व द्वेष को समाप्त कर विदेशियों के राज्य को उखाड़ने से प्राप्त होगा। आगे दो प्रकार के भक्ष्याभक्ष्य की चर्चा की है, एक तो वैद्यक-शास्त्रोक्त तथा दूसरा धर्मशास्त्रोक्त। यहीं पर गाय आदि उपयोगी पशुओं की हिंसा से हानि व रक्षा से लाभ दर्शाया है। गोहत्या विदेशी शासन का कुफल है, इससे राष्ट्र का समूल नाश होगा। अत: इसके निराकरण के लिए प्रयत्नशील रहने को कहा है। बाद में सहभोजन के दोष गिनाते हुये

उच्छिष्ट शब्द पर विचार किया गया है। साथ ही शुद्ध-पवित्र शरीर व हाथ आदि से बनाए अन्न के ग्रहण की बात कही है। अन्त में गोबर से चौका लगाने के लाभ, स्वच्छ व शुद्ध स्थान पर भोजन बनाना व करना और तत्सम्बन्धी आर्यों के व्यवहार की चर्चा है।

एकादश समुल्लास

उत्तरार्ध प्रारम्भ करते हुए अनुभूमिका में एक सहस्राधिक प्रचलित मत-मतान्तरों का मूल पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी इन चारों मतों को बताया है और सत्यासत्य के यथायोग्य ज्ञान के लिए इन मतों को स्पष्ट किया है, जिससे पारस्परिक विरोध समाप्त होकर सब एक मत में प्रवृत्त हो सकें।

यह भारत-भूमि सर्वोत्तम देश होने से इसका नाम स्वर्णभूमि है। इसी कारण इसको पारसमणि कहा है। महाभारत पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य था। पुरुषार्थ की कमी से पतन हो गया। यहाँ की शस्त्रास्त्र विद्या और अन्य सभी ज्ञान-विज्ञान कालान्तर में भारत से ही विश्वभर में फैला। वेद व्याख्याता समझे जाने वाले मोक्षमूलर का ज्ञान टीका-टिप्पणी देखकर जोड़ा गया है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रमाण मिलते हैं। दाराशिकोह की सम्मति, काशी का शिशुमार चक्र पुराने ज्ञान के उदाहरण हैं। महाभारत के युद्ध से भारत का पतन प्रारम्भ हुआ और पश्चात् अज्ञानी ब्राह्मणों की स्वार्थ-साधना से रसातल पहुँच गया, क्योंकि कर्म के स्थान पर लोभ व अविद्यावश जन्म से ब्राह्मणत्व माना जाने लगा और ये पाप ही इस पतन के कारण बने। कोई भी देश सच्चे उपदेशकों के बिना ज्ञानवान् नहीं रह सकता। इन ब्राह्मणों में जो उत्तम थे उन्होंने परिश्रम से, सस्वर पाठ-परम्परा से वेदादि शास्त्रों की रक्षा की।

वाममार्ग के पञ्च मकारों ने सारे समाज को भ्रष्ट कर दिया। वेदों के नाम पर भी वामाचार का प्रसार हुआ। मन्त्रों का अनर्थ करके पशुओं का होम होने लगा और इसी मध्यकाल में जैन व बौद्ध मतों का प्रादुर्भाव व

प्रसार हुआ तथा आर्यों का उत्पीड़न एवं शास्त्रों का नाश किया गया। इस समय शंकराचार्य ने शास्त्र की रक्षा का प्रयत्न किया, परन्तु उनके शिष्य मात्र श्रीमान् होकर आनन्द करने लगे। शंकराचार्य का मत मात्र अवैदिक मतों को परास्त करने हेतु युक्ति थी। उनके द्वारा प्रयुक्त अध्यास और अध्यारोप अवैदिक विचारधारा है जो रक्षा के लिये प्रयुक्त कण्टकवत् ग्राह्य है, अन्यथा नहीं। क्योंकि सभी उपनिषदों व दर्शनों में त्रैतवाद की ही प्रतिष्ठा है, अद्वैत की नहीं। इस देश के पतनकाल में भी विक्रमादित्य, भर्तृहरि, भोज, कालिदास आदि राजा और उनके आश्रयी विद्वान् हुए। वाममार्गी व शंकर अनुयायी शिवभक्त हुए। वाममार्गी वेद-विरोधी व शंकर को मानने वाले वेदानुयायी रहे। आगे चलकर इन में शिवलिंग की उपासना का प्रारम्भ हुआ। जैनियों की मूर्ति-परम्परा को देख कर पोपों ने मन्दिरों में अपने देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित कीं। इसी समय आर्ष ग्रन्थों में प्रक्षेप हुआ। भोज के समय पुराण और महाभारत में प्रक्षेप होने के प्रसंग उपलब्ध होते हैं। तथापि भोज के समय विज्ञान-विद्या कुछ शेष थी जिसमें यान पंखे का वर्णन मिलता है। राजा भोज के डेढ़ सौ वर्ष पीछे वैष्णवों का प्रारम्भ हुआ-अन्य सम्प्रदायों का भी। शैवों ने शिव पुराणादि बनाये, शाक्तों ने देवीभागवतादि। सब ने अपने देवता को बड़ा व दूसरों को क्षुद्र बताया और नाना गप्पें लिखी गईं। भस्म, रुद्राक्ष आदि से मुक्ति मानने लगे। यही लीला चक्रांकितों की है। इनका प्रवर्तक शठकोप आदि वैष्णव हुआ। शंकर के मत के विरोध में रामानुज मत का प्रचार हुआ। ये जीव-ब्रह्म-माया तीनों को नित्य मानते हैं। इनमें भी कण्ठी, तिलक, माला, मूर्ति का पाखण्ड यथावत् है। मध्य समय में पोपों ने मूर्ति को मोक्ष का साधन बनाया और अपने स्वार्थ की पूर्ति की। नाम मात्र को फल का कारण कहा, पत्थर को ही ईश्वर बतलाया, अवतारों की कल्पना की। इसी प्रकार तन्त्रों में मन्त्र रचना प्रस्तुत हुई और अज्ञान फैलता रहा।

मूर्तिपूजा अज्ञान है और अज्ञान पाप है, अधर्म है, मोक्ष की सीढ़ी न होकर एक खाई है। साकार होने से उसमें मन कभी स्थिर हो ही नहीं सकता। मूर्तिपूजा के प्रमाद, लड़ाई, फूट, पराजय आदि १६ दोष हैं। पञ्चायतन पूजा भी झूँठी है। सच्ची पूजा तो माता-पिता, आचार्य, अतिथि, पति-पत्नी जो वास्तविक पञ्च देव हैं, इनसे यथायोग्य व्यवहार है। मूर्ति के जड़-धर्म युक्त होने से आत्मा की विचार-शक्ति घट जाती है। अत: लाट भैरव, गया-श्राद्ध, काली, कामाख्या, जगन्नाथ, रामेश्वर, कालियाकन्त, डाकोर सभी झूँठे गपोड़े हैं जो सोमनाथ मन्दिर के समान भारत के नाश के कारण हैं। यही हाल द्वारिका के रणछोड़, ज्वालामुखी, हिंगलाज, अमृतसर के रेवालसर, अमरनाथ, हर की पैड़ी, बड़ी केदार आदि का है। अयोध्या, प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन, कुरुक्षेत्र आदि मूर्तिपूजा के तीर्थ-रूप में दो-ढाई हजार वर्ष से प्रचलित हैं। वास्तविक तीर्थ तो जिन कार्यों के करने से मनुष्य दु:खों से तर जाता है वही हैं। पश्चात् बनी गुरु गीता और गुरु माहात्म्य एक बड़ी पोप लीला है। पुराण व्यास जी के नाम से कल्पित गपोड़े हैं। कृष्ण द्वैपायन का नाम वेद पढ़ने-पढ़ाने से वेद व्यास हुआ।

शिव पुराण, भागवत पुराणादि में लिखी सृष्टि-रचना विज्ञान-विरुद्ध है। मार्कण्डेय पुराण में सृष्टि-क्रम के विरुद्ध असम्भव बातें लिखी हैं। पुराणों में जय-विजय को शाप, वराह द्वारा हिरण्याक्ष वध, नृसिंह द्वारा हिरण्यकश्यप विनाश, पूतना व अक्रूर, अजामेल की कथा भागवत के प्रसिद्ध गपोड़े हैं। यह भागवत वेद व्यास का रचा न होकर बोपदेव का बनाया है। शिव पुराण के बारह ज्योतिर्लिंग-जहाँ प्रकाश का लेश भी नहीं है-पोप की पेट-पूजा का प्रकरण है।

ग्रहों के फल की कल्पना भी ऐसी ही झूँठी लीला है। ग्रह जड़ होने से किसी पर कुपित नहीं होते। ग्रह से कोई धनी निर्धन नहीं होता। मन्त्र से देवता

का वशीकरण एक ढोंग मात्र है। सूर्य-चन्द्र ग्रहण ज्योतिष की एक प्रक्रिया है। गरुड़ पुराण की जीवगति, गोदान, पर्वताकार यम, पोपों की माया के अतिरिक्त कुछ नहीं। पोप जी का स्वर्ग दरिद्रता का घर मात्र है। यमादि वायु के नाम हैं, जिनमें जीव गति करता है । इसलिए दान देते हुए पात्र, काल व देश का विचार करके ही दान देना चाहिए। इसी प्रकार व्रत-उपवास आदि भी निरर्थक पाखण्ड हैं। इन तीर्थादि का विधान न वेद में है, न शाखा में। मूर्ति से निन्दा और उपहास होता है पूजा नहीं। इनमें चोली मार्गी व बीजमार्गी लोग पामर होते हैं। निकृष्ट कार्यों को मुक्ति का साधन मानते हैं। शैव भी बं-बं शब्द करते हैं। ये भी वाममार्गी की तरह भ्रान्त हैं। वैष्णव श्री आदि धारण करते हैं, परन्तु घर-घर भीख माँगते हैं। यह विरुद्धाचरण ही इनके पतन का द्योतक है। इनमें भी कई भेद हैं-नीमावत, माधव, गौड़ बंगाली, रामप्रसाद वाले, सब भिन्न तिलक धारण करते हैं, उसी से मुक्ति मानते हैं। खाखियों की कथा भी निराली है। सिद्ध बनते हैं, गांजा-भांग का दम लगाते हैं, बच्चों को बहकाकर चेले बनाते हैं। विद्या पढ़ने नहीं देते, स्वयं साक्षात् अविद्या की मूर्ति होते हैं। कबीरपन्थी पाषाण पूजन नहीं करते तो क्या हुआ, पलंग, गद्दी, तकिये, खड़ाऊँ पूजते हैं। यह भी मूर्ति-पूजा ही है। नानक जी के मत में वेद की निन्दा है, परन्तु उन्होंने अपने समय में लोगों को मुसलमान होने से बचाया-इतना कार्य अच्छा किया। इनके चेलों ने मूर्ति की जगह ग्रन्थ साहब की पूजा शुरु कर दी। यह भी मूर्ति-पूजा ही है।

दादूपन्थी लोगों ने दादूराम-दादूराम कहने में ही मुक्ति समझ ली। यह सत्यज्ञान-शून्यता है। रामस्नेही मत का प्रारम्भ करने वाला सीधा-सादा अनपढ़ मनुष्य था। राम-राम जपने से मुक्ति मानता था। इसके चेले अपना नाम तो रखते हैं रामसनेही, परन्तु इनके आचरण रांड सनेही के हैं। इनकी दो शाखाएँ हैं। राम इनका महामन्त्र है, साधुओं के चरण धोकर पीते हैं। वल्लभ

सम्प्रदाय गुसाइयों की लीला है। लक्ष्मणभट्ट इसका संचालक था। उसके द्वारा पालित पुत्र ने इस वल्लभ मत की स्थापना की। इनकी लीला भी तीन लोक से न्यारी है। इनका पुष्टि मार्ग तो साक्षात् कुष्ठि मार्ग है। स्वामी सहजानन्द का नारायण मत भी ऐसा ही पाखण्ड है। ये छल-कपट से पैसा बटोरते हैं। अपने को सत्संगी और दूसरे को कुसंगी कहते हैं। सदेह बैकुण्ठ जाना मानते हैं। माध्व भी ऐसे ही पाखण्डी हैं। वर्ष-वर्ष में फिर चक्रांकित होते हैं। इसी प्रकार लिंगांकित भी हैं। ब्रह्म-समाज और प्रार्थना- समाज में स्वदेशभक्ति न्यूनता आदि १६ दोष प्रमुख हैं, अतः त्याज्य हैं। वास्तव में परोपकार धर्म और परहानि अधर्म है। ईश्वरकृत भेद मान्य व मनुष्यकृत अमान्य हैं। जिसमें जो गुण हों उनको स्वीकार कर दोष त्याग देना योग्य है। वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक होने से सबको ग्राह्य है। जीव नित्य है। कर्मफल बिना भोगे समाप्त नहीं होता, स्वाभाविक ज्ञान से उन्नति संभव नहीं होती अतः नैमैत्तिक ज्ञान आवश्यक है। पूर्वजन्म व पुनर्जन्म स्वीकार करना चाहिए। ईश्वर के अतिरिक्त किसी को देव नहीं मानना चाहिए। अग्निहोत्र छोड़ना अच्छा नहीं, अतः आर्य समाज के नियमों को मानकर चलने से ही कल्याण सम्भव है। धर्म कभी अलग नहीं होते, सत्य धर्म एक होता है। सबको इसका पालन करना चाहिए। इस प्रकार जिज्ञासु द्वारा सभी मत-मतान्तरों से परिचित हो सत्य ग्रहण कर अपने मत का प्रचार-प्रसार व शुद्धि कार्यों को करना योग्य है। यह स्वामी जी की मान्यता है।

द्वादश समुल्लास

इस बारहवें समुल्लास में बौद्ध व जैन नास्तिक मतों का विवेचन हुआ है। चार्वाक मत का प्रवर्त्तक बृहस्पति नाम का पुरुष था। उसके विचार से शरीर ही जीव है, उसके नाश से सब नष्ट हो जाता है। प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है, स्त्री-आलिंगन आनन्द ही पुरुषार्थ परिणाम है। परन्तु जड़ कभी

चेतन का निर्माता नहीं हो सकता और अदृश्य पदार्थों का अभाव नहीं होता, अतः चेतन आत्मा व जड़ शरीर पृथक् हैं। चार्वाक दर्शन के अनुसार अग्निहोत्र, तीन भेद, तीन दण्ड और भस्म लगाना ज्ञान-कर्महीन जनों की जीविका है। शरीर को हुआ दुःख नरक, राजा ही परमेश्वर, शरीर-नाश ही मोक्ष है। और भी बहुत-सी सत्यासत्य बातें इनके दर्शन में वर्णित हैं। बौद्ध और जैन में भिन्नता इतनी ही है कि ये परलोक व जीव का अस्तित्व नहीं मानते, वे मानते हैं। इनकी मान्यता को स्वीकार करने पर सृष्टि के स्वाभाविक क्रम में बिना चेतन के नियम व व्यवस्था सम्भव नहीं, सुख-दुःख जड़ को होते तो मृत शरीर में भी होने चाहिएँ। धर्माधर्म के संस्कार चेतन के साथ पुनर्जन्म में जाते हैं, इनका वेद-विरोध बिना वेद पढ़े सुनी-सुनाई गप्पों पर आधारित व अप्रमाणित है। जो कहीं वेद-भाष्य में भ्रष्टाचरण दिखता है वह टीकाकारों की लीला है।

बौद्धों में चार्वाक से भिन्नता अनुमान प्रमाण के स्वीकार करने से है। इनकी चार मुख्य शाखायें हैं-माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक, ये चार मान्यतायें एक ही गुरु के शिष्यों के मतभेद हैं। इनका मुख्य वाद क्षणिकवाद है। संसार को ये दुःखरूप स्वीकार करते हैं। पंचस्कन्ध को जानने का विधान है। इनके क्षणिकवाद से किसी भी बात का स्मरण करना सम्भव नहीं है। जो दृश्य है वह मिथ्या नहीं हो सकता, ज्ञान भी ज्ञेय के बिना सम्भव नहीं। अतः इनकी मान्यता तर्कसंगत नहीं। ये चार द्रव्य स्वीकार करते हैं जो प्रतिक्षण नये-नये बनते हैं। इनकी समानता जैनियों से पर्याप्त है। द्वादशायतन पूजा को मुक्ति का साधन मानते हैं।

जैन लोग छः द्रव्य स्वीकार करते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल। इनकी दूसरी विशेषता सतभंगी न्याय व स्याद्वाद है। यह एक व्यर्थ प्रपञ्च है। यह

अन्योन्याभाव में साधर्म्य और वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है। व्यर्थ ही सरल प्रश्न को जटिल बनाया गया है। जैनियों के मत से जीव ही परमेश्वर हो जाता है और ये अपने तीर्थंकरों को ही मुक्ति प्राप्त परमेश्वर मानते हैं। ईश्वर की पृथक् सत्ता में प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव होने से अन्य कोई भी प्रमाण संभव नहीं, ऐसी भी मान्यता है, परन्तु ईश्वर के साक्षात्कार में सभी प्रमाण हैं। बिना ईश्वर के सृष्टि का निर्माण सम्भव नहीं, माता-पिता से उत्पन्न होने वाले तीर्थंकर कभी ईश्वर हो नहीं सकते, उसके बिना कर्मफल व्यवस्था का सम्भव नहीं, जीव भी मुक्त होकर न ईश्वर हो सकता है न निष्क्रिय। इसी प्रकार ईश्वर के चेतन होने से जगत् चेतन नहीं हो सकता जैसे आकाश व्यापक होने से सब आकाश नहीं हो जाता। जीव अपने कर्म करता है, ईश्वर अपने। ईश्वर सर्वशक्तिमान् होने से सृष्टि का कर्त्ता है। वह अपने आनन्द से वंचित होकर कभी दु:ख में नहीं पड़ता। उसमें अनेकता होने पर व्यवस्था सम्भव नहीं और जीव का कर्मफल भोगना वैसे ही सम्भव नहीं जैसे अपराधी का स्वयं को अपराधी मानना और दण्डित करना। इस कारण ईश्वर यथावत् कर्ता होता हुआ न तो विरक्त होता है, न मोही। इसके अतिरिक्त जैन मान्यताओं में जीव परिणाम, आयुमान, कालगणना, शंख, कौड़ी, वनस्पति, जूँ, बिच्छू, मच्छी आदि के देह परिमाण के विषय में अकल्पनीय गप्पें लिखी गई हैं। भूगोल-ज्ञान सम्बन्धी बातें नितान्त अविद्यापूर्ण हैं। जीव की परिभाषा करते हुए जड़ पुद्गल का पाप-पुण्य होना सर्वथा असत्य है। इनमें अपने ही मत के व्यक्तियों का आदर करना, दूसरों का अनादर-यह शिष्टाचार के विरुद्ध है। अपने लोगों के प्रति दया, क्षमा, अन्यों को कष्ट, यह मान्यता धर्मसंगत नहीं हो सकती। दूसरे मत वालों की तुलना साँप से की गई है। मूर्तिपूजा सब मतों की भाँति जैन धर्म में त्याज्य दोष है। इनके ग्रन्थों में कृष्ण, धन्वन्तरि आदि महापुरुषों का नरक में जाना लिखा है। अपने महापुरुषों के जीवन में मिथ्या

और असम्भव बातों का उल्लेख व प्रचार सत्याचरण नहीं है। जैनियों में दो प्रकार के पन्थ हैं- दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर से ढूंढिये और इनसे तेरहपन्थी बने हैं। ये मुख पर पट्टी बांधते हैं, जो कोई विशेष लाभप्रद बात नहीं, क्योंकि जीव को कष्ट तो हमारे गति करने मात्र से भी संभव है। फिर मुख मात्र से क्या रक्षा संभव है। इस प्रकार सूर्य-चन्द्र की असम्भव संख्या, केवली का १४ राज्य लोकों में फिरना, सिद्ध शिला की कल्पना, कुरुक्षेत्र में ८४ सहस्र नदियाँ बताना, तीर्थंकरों के लिए सिंहासन की कल्पनायें मात्र मिथ्या प्रलाप हैं।

त्रयोदश समुल्लास

त्रयोदश समुल्लास प्रारम्भ करते हुए स्वामी जी लिखते हैं-इस समुल्लास में बाइबिल के मत से ईसाई और यहूदी दोनों का मुख्य-गौण भाव से ग्रहण हो जाता है। बाइबिल की आलोचना करने से पहले उन्होंने बाइबिल के देवनागरी और संस्कृत के अनुवादों को देखा था। इसलिए सत्यासत्य निर्णयार्थ संक्षिप्त रूप से उन शंकाओं का तेरहवें समुल्लास में विवेचन हुआ है।

समुल्लास के प्रारम्भ में बाइबिल के तौरेत का विषय लिखा है, जिसमें आकाश और पृथ्वी की रचना का अवैज्ञानिक वर्णन देखने में आता है। बाइबिल में पृथ्वी का बेडौल होना लिखा है। आगे चलकर ईश्वर को सनाई पर्वत, चौथे आसमान आदि स्थानों में रहने वाला बताया है। ईश्वर को जल पर डोलने वाला कहा है। सूर्य के सम्बन्ध में ईश्वर ने निर्देश दिया-उजाला हो जावे और उजाला हो गया। यह अवैज्ञानिक बात है। इसी तरह आकाश, पानी, स्वर्ग, दिन आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है। आदम को ईश्वर द्वारा अपने स्वरूप से बनाया गया, परन्तु उसमें ईश्वर का कोई गुण नहीं है। नारी की रचना को आदम की पसली से होना बताया गया है। नर-नारी का पृथक्-पृथक् वस्तुओं से निर्माण असंगत बुद्धि की बात है। शैतान द्वारा आदम

और स्त्री को बहकाया जाना और तीनों को ईश्वर के शाप का वर्णन है। यहाँ यह स्पष्ट नहीं कि बिना किसी अपराध के शैतान को दुष्ट क्यों बताया गया है जबकि शैतान का कथन बहकाना नहीं, सच्चाई है। उसको शैतान कहना कहाँ तक संगत है? उस समय वृक्ष ज्ञानदाता थे तो आज क्यों नहीं? बिना अपराध के तीनों को शाप देना क्या अन्याय नहीं है?

बाइबिल में मनुष्य को अपराधी माना गया है। जब आदम निरपराध है तो उसकी सन्तान अपराधी कैसे है?

आदम को ईव के बाग से निकालने की घटना से ईसाइयों का ईश्वर भ्रान्तियुक्त लगता है। बाइबिल का ईश्वर मांसाहारी, ईर्ष्यालु, सामान्य मनुष्य है। इसलिये यह बाइबिल ईश्वर का बनाया हुआ नहीं हो सकता।

इस प्रकार बाइबिल का ईश्वर आदम की बेटियों के साथ विवाह करने से उनका सम्बन्धी हुआ। उसका पश्चात्ताप और अज्ञानता का धर्म उसके ईश्वरत्व को समाप्त कर देते हैं। नूह की नाव में करोड़ों जीवों का समाना, नूह की भेंट को ईश्वर द्वारा सूंघना ऐन्द्रिक व्यवहार है जो कि मनुष्य का धर्म है। ईसाइयों का ईश्वर कसाई, निर्दयी और एक भाषा को बिगाड़ने वाले शैतान से भी बुरा है। खतना करने का आदेश ईश्वर के निर्माण की अज्ञानता है। इस ईश्वर द्वारा रोटी, मक्खन और बछड़े का मांस खाया जाना उसके जंगलीपन का द्योतक है। बाइबिल के अनुसार लूत की दोनों बेटियाँ अपने पिता से गर्भिणी हुईं। क्या ऐसी बाइबिल पवित्र है? बाइबिल में मृतकों को गाड़ने का आदेश है जो अवैज्ञानिकता का एक अच्छा नमूना है। बाइबिल के पैगम्बर आशीर्वाद के लिये छल और कपट का सहारा लेते हैं। ईश्वर द्वारा राखिल की कोख खोला जाना आजकल के डाक्टरों जैसा कार्य है। इसी प्रकार याकूब का ईश्वर के साथ मल्लयुद्ध उसके मनुष्यपन की बात है। बाइबिल का ईश्वर नियोग-परम्परा में विश्वास करता है।

'तौरेत की यात्रा' पुस्तक में मूसा का डरकर भाग निकलना लिखा है। मूसा ने पवित्र स्थान पर जूता उतारने का आदेश दिया है, किन्तु ईसाई जूते की जगह टोपी उतारते हैं। मूसा को जादू का खेल दिखाना, खून की छाप से भक्तों के घर को पहचानना, आधी रात में मिस्त्रियों की हत्या करना, इजराइल के लिये युद्ध करना, चौथी पीढ़ी तक के लोगों से वैर निकालना, क्या-ये सब ईश्वर के कार्य हो सकते हैं? परमेश्वर के लिए बैल की बलि देना, वेदी पर लहू छिड़कना क्या जंगलीपन नहीं है? पुस्तक में परमेश्वर का मूसा से बैल की भेंट माँगना, यज्ञ-वेदी में पशुओं को भूनकर खाना, परमेश्वर के लिये बछिया की बलि करवाना, बकरी के बच्चे की भेंट से पापों का निवृत्त हो जाना, भेड़ न मिले तो कबूतरों के बच्चों से ही काम चलाना- ये सब ईश्वरीय धर्म-ग्रन्थ के विषय कदापि नहीं हो सकते। गधे द्वारा ईश्वरीय दूतों को देखा जाना, कुमारियों को अपने लिये जीवित रखना, इन बातों में सत्यता और औचित्य कदापि नहीं हो सकता।

'सेमुएल' की दूसरी पुस्तक में ईश्वर का तम्बू में रहना, राजाओं की पुस्तक में ईश्वर के घर और जेरुसलम का विनाश ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर कलंक है। ज़बूर की पुस्तक के अनुसार मती को भेजकर सत्तर हजार पुरुषों को मारना क्या उचित कार्य है? 'ऐयूब' की पुस्तक के अनुसार ईश्वर का शैतान से ऐयूब के प्राणों की भिक्षा माँगना क्या ईश्वरत्व है? 'उपदेश' की पुस्तक में बुद्धि के बढ़ने से शोक या दुःख मानना मूर्खता है। मती रचित 'इंजील' में यीशु की मरियम से उत्पत्ति सृष्टि-नियम के विरुद्ध है। इसी तरह ईसा की परीक्षा कराना और रोगियों को ठीक करने के पाखण्ड का प्रचार मात्र पाखण्ड है। बाइबिल के अनुसार ईसाइयों को धन संचय न करने का विधान है। यीशु को प्रभु कहने वालों को स्वर्ग नहीं मिलेगा तो क्या सारे पादरी नरक में जायेंगे? इसी तरह कोढ़ी का हाथ छूते ही कोढ़ का दूर हो जाना, अर्धांगी

को छूते ही रोग को दूर करना, बारह शिष्यों का भूतों पर अधिकार होना, बिना इलाज रोग दूर होना-ये सब ईश्वरीय कार्य नहीं, सब गप्पें हैं। इसी प्रकार सात रोटियों से चार हजार लोगों की तृप्ति करने वाला ईसा भूख में गूलर खाता था। विश्वासी के द्वारा पहाड़ को हटा सकना आज के ईसाइयों में विश्वास न होने में प्रमाण नहीं है। गूलर के पेड़ को शाप देना, तारों का गिरना, आकाश की सेना का डिगना, आकाश का हिलना, विरोधियों का अनन्त आग में जलना- ये सब निम्न मनुष्य के कार्य हैं, ईश्वर के नहीं। शिष्य द्वारा यीशु को पकड़वाया जाना और अन्त समय में दुर्गति होना ईश्वरीय आचरण कभी नहीं हो सकता-इत्यादि बातें सृष्टि-नियम, शास्त्र और धर्माचरण के विरुद्ध होने से सर्वथा त्याज्य हैं।

चौदहवाँ समुल्लास

चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों के मत के विषय में लिखा है। जो कुरान अरबी भाषा में है उस पर मौलवियों ने उर्दू में अर्थ लिखा है। उसका आर्य भाषान्तर का प्रमाण के लिए उपयोग किया गया है। कुरान ईश्वर रचित नहीं हो सकता क्योंकि अल्लाह के नाम के साथ आरम्भ करने वाला स्वयं अल्लाह नहीं दूसरा और कोई होना चाहिए। जो ईश्वर सब पर दयालु हो, वह मांस खाने की आज्ञा कैसे दे सकता है? परवरदिगार है तो अन्य मत वालों को मारने की आज्ञा क्यों देता है? फिर दूसरी ओर पापियों के पाप को क्षमा कर देना, नियमित न्याय न करके एक दिन ही न्याय कर देना-क्या यह ईश्वर का अन्याय नहीं है? ईश्वरीय ज्ञान अनेक भागों में प्राप्त होना और भिन्न-भिन्न समय में प्राप्त होना क्या ईश्वर की सर्वज्ञता पर कलंक नहीं? बहिश्त में औरतों की ही पूछ होना, उनका सदा रहना-क्या यह पुरुषों से अन्याय नहीं है? पत्थर पर डण्डा मारने से बारह झरनों का बह निकलना, बन्दर हो जाने का डर दिखाना जैसी अयोग्य बातों का वर्णन कुरान में है।

अल्लाह का मुँह जब सब ओर है, तब मुसलमानों द्वारा काबा की ओर मुँह करना क्या अज्ञानता नहीं है? खुदा ने कहा- हो जा और सृष्टि हो गयी। खुदा ने किसे हुक्म दिया और उसे किसने सुना? काबे की ओर मुँह करना क्या बुतपरस्ती नहीं है और मक्का की मस्जिद क्या अपने आप में बुतपरस्ती नहीं है ? अन्य मत वालों को मारने की आज्ञा देना, स्त्रियों को खेती कहना, उधार माँगना-ये सब अज्ञानता की बातें ईश्वर कभी नहीं कर सकता। छः दिन में जगत् को बनाकर फिर आराम करना, अपनी इच्छा से किसी को डुबा देना, किसी को पार करना, अल्लाह और रसूल को पुकारने का आदेश देना, लूट के माल में अपना पाँचवाँ भाग रखना आदि बातें कुरान को ईश्वरीय ज्ञान बनाने में कभी सहायक नहीं हो सकतीं। इसी प्रकार खुदा का ऊँटनी रखना, काफिरों को बहकाने के लिए शैतान को भेजना ईश्वरीय कार्य नहीं हो सकते। सूर्य का कीचड़ में डूब जाना एक असम्भव कर्म है। दो बार कहकर पाप करने से छूट जाना पाप करने की आज्ञा देने के बराबर है। ईश्वर सातवें आसमान पर रहता होगा तो मुसलमान ही उसके पुलिसवाले होंगे। नबी की बीवियों पर पाबन्दी लगाना, बेटे की औरत से निकाह करना, स्त्रियों को सदा घर में बन्द रखना, अनेक स्त्रियाँ देने की अनुमति देना, यह धर्म-विरुद्ध दु:खदायी बातें हैं। कुरान की मुक्ति मात्र स्वर्ग में शराब और बीवियों की बहुतायत है। खुदा की मर्जी ही उसका न्याय है। सूर्य को लपेटना, आसमान की खाल उतारना, दरिया को चीरना, बाल पकड़कर घसीटना आदि अज्ञानपूर्ण बातें ही उस ईश्वर का कार्य हैं। ऐसा कुरान कभी भी ईश्वरीय ज्ञान नहीं हो सकता।

सत्यार्थ प्रकाश के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश संलग्न है। इसमें सर्वतन्त्र सिद्धान्त की परिभाषा करते हुए सनातन नित्य-धर्म की चर्चा की है। 'किसको प्रमाण मानना चाहिए और किसको नहीं' लिखकर ब्रह्मा से लेकर

जैमिनी पर्यन्त विचारों की मान्यता को ही अपनी मान्यता बतलाते हुए सत्य को मानना, मनवाना और असत्य को छोड़ना और छुड़वाना स्वयं का मुख्य मन्तव्य बतलाया है। धर्म-युक्त बातों का त्याग करना मनुष्य धर्म से पतित होना है-यह लिखकर सच्चे मनुष्य की परिभाषा देते हुए अपनी बात की पुष्टि में भर्तृहरि, महाभारत, मनु आदि के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं और अन्त में जिन पदार्थों को जैसा मानते हैं उनका संक्षेप में वर्णन किया है, वे पदार्थ हैं, ईश्वर, चारों वेद, धर्माधर्म, जीव और ईश्वर, अनादि पदार्थ, प्रवाह से अनादि सृष्टि, सृष्टि का प्रयोजन, सृष्टि सकर्तृक है, बन्ध-मुक्ति, मुक्ति के साधन, अर्थ, काम, वर्णाश्रम, राजा, प्रजा, न्यायकारी, देव, देव-पूजा, शिक्षा, पुराण, तीर्थ, पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा, मनुष्य, संस्कार, यज्ञ, आर्य और दस्यु, आर्यावर्त्त, आचार्य, शिष्य, गुरु, पुरोहित, उपाध्याय, शिष्टाचार, आठ प्रमाण, आप्त, परीक्षा, परोपकार, स्वतन्त्र-परतन्त्र, स्वर्ग-नरक, जन्म-मृत्यु, विवाह, नियोग, स्तुति, प्रार्थना, उपासना और सगुण-निर्गुण-स्तुति प्रार्थनोपासना-इन मन्तव्यों का वर्णन संक्षेप में किया है। यही सिद्धान्त सब ग्रन्थों में यत्र-तत्र प्रतिपादित किए हैं। अन्त में ग्रन्थ का प्रयोजन लिखते हुए मत-मतान्तरों के झगड़ों को समाप्त करके सबको सुख लाभ पहुँचाने के लिए प्रयत्न और अभिप्राय प्रदर्शित है। ग्रन्थ का अन्तिम वाक्य ध्यातव्य है-''**सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्त जनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे जिससे सब लोग सहज से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें। यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।**''

आर्य समाज के नियम

१. सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५. सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।